| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का महत्वपूर्ण माध्यम थी

चंद्रपाल जांदू

सहायक आचार्य, इतिहास, डॉ. भीमराव अंबेडकर राजकीय महाविद्यालय, श्रीगंगानगर

सार

प्राचीन भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक रोचक तथा महत्वपूर्ण सभ्यताओं में एक है । इस सभ्यता के समुचित ज्ञान के लिये इसकी शिक्षा पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक है जिसने इस सभ्यता को चार हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा, उसका प्रचार-प्रसार किया तथा उसमें संशोधन किया ।प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया । भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत् निर्वाह के लिये शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया । वैदिक युग से ही इसे प्रकाश का स्रोत माना गया जो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा-निर्देश देता है । सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताता है ।' महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है (नास्ति विद्यासमं चक्षुनास्ति सत्यसमं तपः) ।इसे मोक्ष का साधन माना गया है (सा विद्या या विमुक्तये) । सुभाषितरत्न भण्डार में कहा गया है कि जीवन की समस्त कठिनाइयों तथा बाधाओं को दूर करने वाले ज्ञान रूपी नेत्र जिसे प्राप्त नहीं है वह वस्तुतः अन्धा है ।प्राचीन भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा द्वारा प्राप्त एवं विकसित की गयी बुद्धि ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति होती है । (बुद्धिर्यस्य बलं तस्य) । विद्या के विविध उपयोग बताये गये हैं । यह 'माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी कार्यों में नियोजित करती है, पत्नी के समान दुखों को दूर कर आनन्द पहुँचाती है, यश तथा वैभव का विस्तार करती है । यह कल्पलता के समान गुणकारी है ।'विद्या, विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता (निपुणता) आती है, पात्रता से व्यक्ति धन प्राप्त करता है, धन से धर्म तथा अन्ततोगत्वा सुख की प्राप्ति होती है । 'विद्या को सभी धनों में प्रधान निरूपित करते हुए बताया गया है कि इसे न चोर चुरा सकता है, न भाई बँटा सकता, न राजा छीन सकता है और न ही यह मनुष्य के लिये भारतुल्य होती है । यह ऐसा धन है जो व्यय करने पर भी बराबर बढ़ता है ।'यहाँ तक कि बाह्मण भी यदि विद्या रहित है तो वह सूद के समान ही है । विद्या-सम्बन्धी समस्त गुणों का निरूपण करने के पश्चात् भारतीय मनीषियों ने यह घोषित किया कि विद्या से विहीन व्यक्ति वस्तुतः पशु तुल्य है (विद्याविहीनः पशु) । प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन थी ।इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था । कहा गया है कि शास्त्रों का पण्डित भी मूर्ख है यदि उसने कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपुणता प्राप्त नहीं की है (शास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा: यस्तु कियावान्पुरुष: सएव) ।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है । इसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि में अभीष्ट नहीं था । ऐसी मान्यता वालों की निन्दा की गयी है । प्राचीन विचारकों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के साथ आजीवन चलने वाली वस्तु है ।

परिचय

सच्चा अध्यापक वह है जो अपने जीवन के अन्त तक विद्यार्थी बना रहता है । इस प्रकार प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान का सर्वप्रमुख माध्यम है ।

शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य:

किसी भी प्राचीन ग्रंथ में शिक्षा के उद्देश्यों का आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार वर्णन नहीं प्राप्त होता । तथापि विभिन्न ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित जो उल्लेख मिलते है उनके आधार पर प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों की जानकारी कर सकते हैं ।[1]

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है:

(i) चरित्र का निर्माण:

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था । भारतीय शास्त्रों में चच्चरित्रता को बहुत अधिक महत्व दिया गया है । यह व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण है । चरित्र एवं आचरण से हीन व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गयी है । मनुस्मृति में वर्णित है कि 'सभी वेदों का ज्ञाता विद्वान् भी सच्चरित्रता के अभाव में श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु केवल गायित्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित भी यदि वह चरित्रवान् हैं तो श्रेष्ठ कहलाने योग्य हैं ।'सत्कर्मो से ही चरित्र का निर्माण सम्भव है । शिक्षा के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान तथा शक्ति प्राप्त करता है उससे उसमें नैतिक गुणों का उदय होता है तथा सन्मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा उसे प्राप्त होती है । भारतीय विचारकों ने चरित्र को विद्वता से अधिक महत्वपूर्ण माना है । महाभारत में एक स्थान पर तो यहाँ तक बताया गया है कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही विद्वान् होता है ।शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य अपनी तामसी तथा पाशविक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखता है । उसमें अच्छे तथा बुरे के विभेद करने की बुद्धि जागृत होती है । वह बुरे कार्यों को त्याग कर अपने को सत्कर्मों में प्रवृत्त करता है । विद्यार्थी के लिये शिक्षा की व्यवस्था कुछ इस प्रकार की गयी थी कि प्रारम्भ से ही उसे सच्चरित्र होने की प्रेरणा मिलती थी और वह तदनुसार अपने को विकसित करता था ।वह गुरुकुल में आचार्य के सान्निध्य में रहता था । आचार्य न केवल विद्यार्थी की बौद्धिक प्रगति का ध्यान रखता था, अपितु उसके नैतिक आचरण की भी निगरानी करता था । वह इस बात का ध्यान रखता था कि विद्यार्थी दिन-प्रतिदिन के जीवन में शिष्टाचार एवं सदाचार के नियमों का पालन करे । इनमें बड़ों, समानों तथा छोटे के प्रति आचरण सम्मिलित थे ।इनके द्वारा विद्यार्थी को अपना चरित्र निर्माण करने में सहायता मिलती थी । ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए शौच, आचार, स्नान, सन्ध्योपासना आदि विद्यार्थी के चरित्र के मूल आधार थे जो उसके चरित का उत्थान करते थे ।विद्यार्थी के समक्ष महापुरुषों जैसे हरिश्चन्द्र, राम, लक्ष्मण, हनुमान, भीष्म तथा सीता, सावित्री, अनसुय्या, द्रौपदी जैसी महान् नारियों के उच्च चरित्र का आदर्श प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसके चरित्र निर्माण में प्रेरणा मिलती थी ।प्राचीन शिक्षा पद्धति को विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण के लक्ष्य को पूरा करने में सफलता मिली । इसके द्वारा शिक्षित विद्यार्थी कालान्तर में चरित्रवान एवं आदर्श नागरिक बनते थे । भारत की यात्रा पर आने वाले विदेशी यात्रियों-मेगस्थनीज, हुएनसांग आदि सभी ने यहाँ के लोगों के नैतिक चरित्र के समुन्नत होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है ।

(ii) व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास:

प्राचीन शिक्षा का एक उद्देश्य विद्यार्थी को व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर प्रदान करना था । भारतीय व्यवस्थाकारों ने व्यक्तित्व को दयाने का कभी भी प्रयास नहीं किया । कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यहाँ की शिक्षा पद्धति में कठोर अनुशासन के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को दबा दिया गया जिससे उनका समुचित विकास नहीं हो सका ।किन्तु रस प्रकार की अवधारणा भारतीय दृष्टिकोण को भली प्रकार से न समझ सकने के कारण है । वस्तुतः यहाँ प्रत्येक युग में व्यावहारिक दृष्टि से वृत्ति के चुनाव की स्वतन्त्रता रही है । स्मृति ग्रन्थों में शिक्षा का को विधान प्रस्तुत किया गया है वह अधिकतर काल्पनिक एवं आदर्शवादी है । व्यावहारिक दृष्टि से उस पर आचरण बहुत कम किया गया ।प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास का भी पूरा ध्यान रखा गया था । 'स्वास्थ्य मस्तिष्क का अधिष्ठान स्वस्थय शरीर होता है' यह धारणा प्राचीन भारतीय चिन्तकों को मान्य थी । शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, आत्म-संयम, विवेक-शक्ति, न्याय-शक्ति आदि गुणों का उदय होता था जो उसके व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक थे ।विद्याध्ययन के पूर्व उपनयन संस्कार के अवसर पर ही विद्यार्थी में आत्म-विश्वास जागृत किया जाता था । उसे यह बोध कराया जाता था कि उसके कर्तव्यों के निर्वाह तथा लक्ष्य की प्राप्ति में देवगण उसकी सहायता करेंगे । अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि वह उसे बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करे । सविता उसकी शारीरिक बाधाओं को दूर करते थे ।इन दैवी शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्मचारी भविष्य के प्रति आश्वस्त होकर निष्ठापूर्वक पूरी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का विवाह करता था । भविष्य-जीवन की कठिनाइयों का भय उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकता था । विद्यार्थी में आत्मसम्मान की भावना भी बढ़ाई जाती थी । उसे यह याद दिलाया जाता था कि वह अपने जाति एवं देश की संस्कृति का रक्षक है ।संस्कृति का विकास तभी सम्भव है जबकि वह अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन करे । उसका महत्व इतना अधिक था कि राजा भी उसका आदर करता तथा अपने से ऊँचा आसन प्रदान करता था । वह ब्रह्मचारी को यथेच्छित धन प्रदान करता था । रघुवंश में उल्लिखित है कि राजा रघु ने कौत्स के शिष्य वरतन्तु को चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें उसके मांगने पर प्रदान कर दिया था ।विद्यार्थी को भविष्य-जीवन की चिन्ता नहीं सताती थी । उसके निर्वाह का उत्तरदायित्व समाज अपने कन्धों पर वहन करता था । ब्रह्मचारी जहाँ कहीं भी जाता उसकी पूजा होती तथा लोग उसके निर्वाह के लिये द्रव्य-प्रदान करते थे । उसका लक्ष्य स्पष्ट एवं सुनिश्चित था । यदि वह व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करता तो उसकी वृत्ति पूर्व निर्धारित थी ।यदि वह धार्मिक शिक्षा ग्रहण करता तो भी निर्धनता उसके मार्ग में बाधक नहीं थी । उसकी आवश्यकतायें सीमित होती थीं तथा समाज उनकी पूर्ति करता था । विद्यार्थी सादा जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श सामने रखता था ।आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन की प्रवृत्तियाँ भी व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती थीं ।[2] उसे अपने इन्द्रियों की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना पड़ता था । आहार, विहार, वस्त्र, आचरण आदि सभी को उसे नियमित करना होता था । शुद्धता एवं सादगी उसके जीवन के मुख्य ध्येय थे ।गीता में कहा है कि 'यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य प्रयास करने वाले, यथायोग्य शयन करने वाले तथा यथायोग्य जागने वाले व्यक्ति के लिये ही योग दुखी का विनाशक बनता है ।' आत्मसंयम से ही व्यक्ति में विवेक एवं न्याय शक्ति का

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

उदय होता है । वह सत्-असत् का भेद करने में समर्थ हो जाता है । इन सभी तत्वों का विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में योगदान होता है ।

भारतीय चिन्तकों ने विद्यार्थी की प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को अनावश्यक दबाने का प्रयास नहीं किया । आत्म-नियन्त्रण एवं आत्मानुशासन से उनका तात्पर्य यथोचित एवं यथावश्यक आहार, विहार, वस्त्राभरण, निद्रा, शयन आदि से था । इससे विद्यार्थी को उच्छृंखल होने से बचाया जाता था । अध्यापक विद्यार्थी को प्रताड़ित करने के बजाय प्रेम एवं सद्भावना द्वारा सन्मार्ग में प्रवृत्त करता था ।

(iii) नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान:

प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराकर उसे सुयोग्य नागरिक बनाना भी था । अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार का आयोजन किया जाता था जिसमें आचार्य विद्यार्थी के समक्ष उसके भावी कर्तव्यों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता था ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में इसे इस प्रकार रखा गया है:

सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना । अपने परिश्रम (स्वाध्याय) में आलस्य मत करना । गुरु को दक्षिणा देने के बाद सन्तति उत्पादन की परम्परा को विच्छिन्न मत करना । सत्यमार्ग से विचलित मत होना । धर्म से विचलित मत होना । लाभकारी कार्यों में प्रमाद मत करना । महान् बनने का अवसर न खोना ।अध्ययन-अध्यापन के कर्तव्यों की उपेक्षा मत करना । देवताओं तथा पितरों के यज्ञ, श्रद्धादि की उपेक्षा मत करना । माता को देवी मानना । आचार्य को देवता मानना । पिता को देवता मानना । अपने अतिथि को देवता समझना । दोष रहित कार्यों को करना, अन्य नहीं । लोगों के अच्छे कार्यों का अनुकरण करना ।जो कुछ भी दान करना, श्रद्धा, विश्वास, आनन्द, विनम्रता, भय तथा दयालुता से करना । कर्तव्य अथवा आचरण में किसी प्रकार के संदेह होने पर उत्तम विवेक वाले ब्राह्मणों की भाँति आचरण करना । इस प्रकार आचार्य विद्यार्थी को उसके सभी सामाजिक कर्तव्यों का बोध करा देता था ।अध्ययनोपरान्त वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता तथा आचार्य द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए देश तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था । विभिन्न व्यवसायों में अपनी अलग-अलग आचार सहितायें होती थीं ।इसमें सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष बल दिया गया था । चिकित्सकों से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन के मूल्य पर भी रोग एवं कष्ट का निदान करें । योद्धा वर्ग प्राणोत्सर्ग द्वारा देश एवं समाज की रक्षा करने की शिक्षा प्राप्त करता था ।विभिन्न शिल्पियों के लिये अलग-अलग आचार सहितायें थीं जिनके द्वारा वे अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हुए समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे । उन्हें यह सलाह दी गयी कि वे केवल अपने स्वार्थ में ही लिप्त न रहें अपितु अपने धन का समुचित भाग परोपकार एवं जनकल्याण के कार्यों में भी व्यय करें ।[3]

(iv) सामाजिक सुख तथा कौशल की वृद्धि:

भारतीय शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक सुख एवं निपुणता को प्रोत्साहन प्रदान करना भी था । केवल संस्कृति अथवा मानसिकता और बौद्धिक शक्तियों को विकसित करने के लिये ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु इसका मुख्य ध्येय विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों आदि में लोगों को दक्ष बनाना था ।भारतीय समाज में श्रम विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था । पेशे प्रायः वंशानुगत होते थे । विभिन्न वर्णों के लोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करके अपने-अपने कर्मों में निपुणता प्राप्त करते थे । गीता में वर्णित है कि 'अपने- अपने कर्मों में रत मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है ।'भारतीय शिक्षा पद्धति ने सदैव यह उद्देश्य अपने समक्ष रखा कि नई पीढ़ी के युवकों को उनके आनुवंशिक व्यवसायों में कुशल बनाया जाये । सभी प्रकार के कार्यों के लिये शिक्षा देने की व्यवस्था प्राचीन भारत में थी । कार्य विभाजन के द्वारा विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों में लोग निपुणता प्राप्त करने लगे जिससे सामाजिक प्रगति को बल मिला तथा समाज में सन्तुलन भी बना रहा ।

(v) संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार:

शिक्षा संस्कृति के परिरक्षण तथा परिवर्धन का प्रमुख माध्यम है । इसी के द्वारा प्राचीन संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है तथा पूर्वकालिक परम्पराओं में जीवनी-शक्ति आती है । अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति ने इस उद्देश्य को सम्यक् रूप से पूरा किया । विभिन्न वर्णों के लोगों का कर्तव्य था कि वे अपनी सन्तति को अपने वर्ण से सम्बन्धित सभी प्रकार के शिल्पों एवं प्रगति के विषय में प्रारम्भ में ही शिक्षित कर दें ।आर्य जाति की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य को सुरक्षित बनाये रखना था । एतदर्थ में यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक विद्यार्थी वेदों को कण्ठस्थ करे तथा उसे अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखे । बाह्मणों का एक वर्ग अपने पवित्र ग्रन्थों की स्मृति सुरक्षित रखने को सदा उद्यत रहता था ।कुछ लोग काव्यशास्त्र, व्याकरण, लौकिक साहित्य, तर्कविद्या, दर्शन में निपुण होकर प्राचीन ज्ञान-विज्ञान को सुरक्षित रखते थे । भारत में वेद तथा अन्य धर्म ग्रंथ जिस प्रकार से आज तक जीवित है उसकी समता किसी

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

अन्य सभ्यता में देखने को नहीं मिलती है ।भारतीय समाज में वैदिक युग से ही तीन ऋणों का सिद्धान्त प्रचलित हुआ । इसने प्राचीन पीढ़ियों की सर्वोत्तम परम्पराओं को सुरक्षित बनाये रखने तथा उसके प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । यह माना गया कि जन्म के साथ ही व्यक्ति पर तीन त्रण लद जाते है- देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण ।इनसे मुक्त होना प्रत्येक का परम कर्तव्य होता है । इसके लिये उसे कुछ कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता है । देवऋण से मुक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करने पर ऋषिऋण से मुक्ति ब्रह्मचर्य के पालन से तथा पितृऋण से मुक्ति सन्तानोत्पन्न करने पर मिलती है ।इन ऋणों के विधान द्वारा इस बात की पूरी व्यवस्था की गयी थी कि भावी पीढ़ियाँ अपनी प्राचीन संस्कृति तथा परम्पराओं को सुरक्षित रखें तथा उनका प्रचार-प्रसार भी करती रहें । प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं को क्षत रखने के कुछ अन्य उपाय भी थे ।इनमें स्वाध्याय तथा ऊषि-तर्पण का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है । स्वाध्याय में प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह विद्यार्थी जीवन में अधीत पाठों के कम से कम एक भाग की प्रतिदिन पुनरावृत्ति करे ।द्वितीय में यह विधान किया गया कि वह प्रातकालीन प्रार्थनाओं में पूर्वकाल के मनीषियों के प्रति कृतज्ञता शापित करे । कालान्तर में जब वैदिक संस्कृत का प्रचलन बन्द हो गया तब लोक भाषा में पुराण आदि साहित्यों को प्रस्तुत किया गया जिनके माध्यम से वैदिक संस्कृति तथा परम्पराओं को सामान्य जन तक पहुंचाया गया । परिणामस्वरूप भारत की प्राचीन संस्कृति जीवन्त रही ।[4]

(vi) निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना:

भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मप्राण रही है जहाँ धर्म ने संस्कृति के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है । अतः शिक्षा पद्धति भी धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था ।विद्यारम्भ में जो संस्कार होते थे, गुरुकुल में विद्यार्थी के लिये जो अनुष्टान एवं व्रत निर्धारित थे तथा उसकी जो प्रतिदिन की प्रार्थना होती थी, इन सबके द्वारा उसके मस्तिष्क में पवित्रता एवं धार्मिकता का उदय होता था ।यह आध्यात्मिक भावना उसे भौतिक जीवन के आकर्षणों से विरत करती थी । वह सत्यनिष्ठा के साथ अपना आचार-विचार संयमित रखते हुये अध्ययन करता था और सुचरित्र का निर्माण करता था । किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्राचीन शिक्षा विद्यार्थियों को संसार त्यागकर सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा देती थी । इसका उद्देश्य विद्यार्थी को सामाजिक जीवन के लिए उपयुक्त बनाना था ।वैदिक युग में भी बहुत कम लोग आजीवन बह्मचर्य रहते थे । अधिकांश लोग विद्याध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम का अनुमरण करते थे । प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसे ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि यह अन्य सभी का पोषक था । सन्यास एवं कायाक्लेश को अधिक मान्यता नहीं मिली ।इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के उद्देश्य अत्यन्त उच्च कोटि के थे । शिक्षा-सम्बन्धी प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण मात्र आदर्शवादी ही नहीं, अपितु अधिकांश अंशों में त्यावहारिक भी था । यह व्यक्ति को सांसारिक जीवन की कठिनाइयों एवं समस्याओं के समाधान के लिये सर्वथा उपयुक्त बनाती थी । शिक्षा समाज-सुधार का सर्वोत्तम माध्यम थी ।अतः भारतीय विचारकों ने सबके लिये इसकी व्यवस्था की थी । प्रत्येक आर्य के लिये उपनयन अनिवार्य था जिससे विद्यारम्भ होता था । वृहदारण्यकोपनिषद् में विहित है कि मनुष्य पितृऋण से मुक्त केवल सन्तानोत्पन्न करने से ही नहीं होता अपितु इसके लिये उसे अपने पुत्रों की उचित शिक्षा की व्यवस्था भी करनी होती थी ।

यह भी कहा गया कि जो माता-पिता अपने बालक को ठीक समय पर शिक्षा नहीं प्रदान करते वे उसके सबसे बड़े वैरी हैं । इन उक्तियों के द्वारा प्राचीन विचारकों ने शिक्षा को व्यापक बनाने का प्रयास किया ।

शिक्षा के पाठ्यक्रम:

ऋग्वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य का अध्ययन ही था । पवित्र वैदिक ऊचाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुराण तथा नाराशसी गाथायें एवं खगोल-विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि भी अध्ययन के विषय थे । वैदिक साहित्य का अध्ययन नौ या दस वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता था । यही उपनयन का भी समय था ।उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये तथा ये शिक्षा के विषय वन गये । उपनिषद् तथा सूत्रों के युग में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया । इसलिये पदपाठ, कर्मपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि विधियां प्रचलित की गयीं । वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के निमित्त छ वेदांगों की रचना हुई-शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ।सूत्र युग के अन्त तक आते-आते वैदिक साहित्य का अध्ययन कम हो गया तथा उसके स्थान पर अन्यान्य विषयों का समावेश पाठयक्रम में कर लिया गया । दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य (रामायण और महाभारत) । व्याकरण, खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माण कला के क्षेत्र में प्रगति हुई ।विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की भी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया । धार्मिक तथा लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया गया । इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे ।[5]

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

अट्ठारह शिल्प निम्नलिखित थे:

(1) गायन,

(2) वादन,

(3) चित्रकला,

(4) गणना,

(5) नृत्य,

(6) गणना,

(7) यन्त्र,

(8) मूर्तिकला,

(9) कृषि,

(10) पशुपालन,

(11) वाणिज्य,

(12) चिकित्सा,

(13) विधि,

(14) प्रशासनिक प्रशिक्षण,

(15) धनुर्विद्या तथा शिक्षा,

(16) जादूगर,

(17) सर्पविद्या तथा विष दूर करने की विधि,

(18) छिपे हुए धन के पता लगाने की विधि ।

वात्स्यायन के कामसूत्र से 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिये अनिवार्य बताया गया है । ये पाकविद्या, शारीरिक प्रसाधन, संगीत, नृत्य, चित्रकला, सफाई, सिलाई-कढ़ाई, व्यायाम, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित है । कामसूत्र के अतिरिक्त कादम्बरी, शुक्रनीतिसार, ललितविस्तर आदि में भी 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है ।प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि यहीं शिक्षा के पाठ्यक्रम में चार वेद, छ: वेदांग, 14 विधायें, 18 शिल्प, 64 कलायें आदि सम्मिलित थे । 14 विधाओं से तात्पर्य चार वेद, 6 वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा तथा तर्क से है । हुएनसांग तथा अल्वेरूनी के विवरण से पता चलता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था । इन विषयों से सम्बन्धित विद्वानों का समाज में बडा सम्मान था ।राजदरबार में भी कई ज्योतिषी निवास करते थे । शिक्षा केन्द्रों में धार्मिक विषयों के साथ ही साथ लौकिक विषयों की भी पढ़ाई सुचारु रूप से होती थी । तक्षशिला में वैदिक साहित्य के साथ-साथ अठारह शिल्पों की भी शिक्षा

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

दी जाती थी । इस प्रकार विद्यार्थी साहित्य का अध्ययन करके स्वतन्त्र रूप से जीविका कमाने योग्य बन जाते थे ।वैदिक युग के प्रारम्भ में शिक्षा मौखिक होती थी तथा पवित्र मन्त्रों को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था । पुरोहित वर्ग के लोग विशेष रूप से मन्त्रों को याद कर लिया करते थे । सामान्य जन केवल कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों को ही याद किया करता था । कालान्तर में मन्त्रों को याद करने के साथ ही साथ उनकी व्याख्या के गान पर भी बल दिया गया ।निरुक्त में ऐसे व्यक्ति की निन्दा की गयी है जो मन्त्रों की व्याख्या जाने बिना ही उन्हें याद करते हैं । शास्त्रार्थ के निमित्त गोष्ठियों का आयोजन किया जाने लगा जिसमें विद्यार्थी बहुधा भाग लेते थे । उपनिषद् तथा सूत्रों के समय में वेदों को अपौरुषेय माना गया तथा वैदिक मन्त्रों के शुद्ध-शुद्ध उच्चारण किये जाने पर बल दिया गया ।[6]

साहित्य की व्यापकता के कारण कुछ विद्यार्थी केवल वेदों को याद करते थे तथा कुछ उनकी टीका से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन करते थे । प्राचीन समय में कागज तथा छपाई के साधनों के अभाव में पुस्तकें अत्यन्त महँगी थीं जिससे साधारण विद्यार्थी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते थे । पुस्तकालयों का भी अभाव था । ऐसी स्थिति में मौखिक शिक्षा ही सबसे सरल तथा सही माध्यम थी ।इस विधि से विद्यार्थी पाणिनीय व्याकरण, अमरकोश, मनुस्मृति, काव्य प्रकाश जैसे राज्यों को कण्ठस्थ कर लेते थे । विद्वान् वही माना जाता था जिसकी जिह्वा पर समस्त विद्यायें रटी हुई हों । प्राचीन काल के लेखक भी यही अभिलाषा रखते थे कि उनकी रचनायें विद्वानों का कण्ठाभूषण बनें ।

विचार-विमर्श

गुरुकुल पद्धति:

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है । इसमें विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु के घर पर निवास कर शिक्षा प्राप्त करता था । कभी-कभी वह शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में निवास करता था । इस प्रकार के विद्यार्थियों को 'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य कुलवासी' कहा गया है ।धर्मग्रन्थों में विहित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुल में निवास करे तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करे । गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था । गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुये विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था ।वहाँ उसे गुरु के पहले उठना तथा उसके सो जाने पर सोना पड़ता था । गुरु की सेवा करना उसका परम कर्तव्य था । उसकी सेवाओं के बदले में गुरु भी उसके ऊपर व्यक्तिगत ध्यान रखता था तथा पूरी लगन के साथ उसे विविध विद्याओं और कलाओ की शिक्षा प्रदान करता था ।प्राचीन व्यवस्थाकारों ने गुरु के साथ विद्यार्थी के सान्निध्य के महत्व को समझा था और इसी कारण गुरुकुल पद्धति पर बल दिया । गुरु के चरित्र तथा आचरण का शिष्य के मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता था तथा वह उसका अनुकरण करता था ।परिवार के वातावरण से दूर रहने के कारण उसमें आत्म-निर्भरता की भावना विकसित होती थी तथा वह संसार की गतिविधियों से अधिक अच्छा परिचय प्राप्त कर सकता था । उसमें अनुशासन की प्रवृत्ति का भी उदय होता था । इसी कारण महाभारत में गुरुकुल की शिक्षा को घर की शिक्षा की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय बताया गया है ।गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे । कुछ प्रसिद्ध मुनियों जैसे बाल्मीकि, कण्व, संदीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे तथा उन्होंने अपने आश्रमों में सैकड़ों विद्यार्थियों को पढाने की व्यवस्था कर रखी थी किन्तु अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में अवस्थित होते थे ।शिक्षक गृहस्थ थे और स्वाभाविक रूप से वे उन्हें अपने निवास-स्थान के समीप ही रखते थे । यह आवश्यक था कि गुरुकुल ग्राम या नगर में किसी उपवन या एकान्त स्थान पर स्थित हों । दौड शिक्षा केन्द्र अधिकतर नगरों में तथा अग्रहार ग्रामों में थे । तक्षशिला के अध्यापक राजधानी में ही रहा करते थे ।प्राचीन साहित्य में गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के नाम मिलते है ।[5] ज्ञात होता है कि इतिहास के विभिन्न युगों में शिक्षा की गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था । छान्दोग्योपनिषद् से पता चलता है कि उद्दालक आरुणि क पुत्र श्वेतकेतु ने गुरुकुल में रहकर अध्ययन किया था । विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि कृष्ण तथा वलराम ने सन्दीपनि के आश्रम में रहकर अध्ययन किया था ।रामायण में भरद्वाज तथा बाल्मीकि के गुरुकुलों का उल्लेख मिलता है । महाभारत से ज्ञात होता है कि कण्व तथा मार्कण्डेय ऊषियों के आश्रमों में प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे । मुनि दुर्वासा के आश्रम में दस हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे । ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला के आचार्य चाणक्य के साथ रहकर शिक्षा प्राप्त किया था ।

गुप्त युग में ब्राह्मणों को जो भूमिदान दिया जाता था उसे अग्रहार कहा जाता था । ये अग्रहार भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे । हर्षचरित में गुरुकुल का उल्लेख मिलता है । अल्वेरूनी के विवरण से पता लगता है कि पूर्व मध्ययुग में शिक्षा प्रदान करने के निमित्त कई गुरुकुलों की स्थापना की गयी थी ।इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन इतिहास के प्रायः प्रत्येक युग में शिक्षा के लिये गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था । वस्तुतः गुरुकुल उच्च अध्ययन के निमित्त होते थे । जातक गुणों से पता चलता है कि विद्यार्थी प्रायः चौदह-पन्द्रह वर्ष की घड़ी आयु में गुरुकुलों में अध्ययन के निमित्त जाया करते थे । कभी-कभी माता-पिता अपने बालकों को, यदि गुरुकुल उनके निवास-स्थान में ही स्थित होते थे, तो वहाँ रहने के लिये नहीं भेजते थे तथा अपने साथ ही रखते थे ।इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ अभिभावक अपने बालकों को समीप के शिक्षा केन्द्र को छोड्कर दूरस्थ शिक्षा केन्द्र में अध्ययन के निर्मित प्रेषित करते थे ताकि परिवार का आकर्षण उनके अध्ययन में बाधक न बन सके ।

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

परिणाम

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएँ सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।[1]

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे; एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार `ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व-पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा-याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलत: काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये।[4]

कभी-कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहाँ एक नया गाँव बन जाता था। इन गाँवों को `अग्रहार' कहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा-दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। अशोक (300 ई° पू°) ने बौद्ध विहारों की विशेष उन्नति करायी। कुछ समय पश्चात् ये विद्या के महान केन्द्र बन गये। ये वस्तुत: गुरुकुलों के ही समान थे। किन्तु इनमें गुरु किसी एक कुल का प्रतिनिधि न होकर सारे विहार का ही प्रधान होता था। ये धर्म प्रचार की दृष्टि से जनसाधारण के लिए भी सुलभ थे। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय (450 ई°), वल्लभी (700 ई.), विक्रमशिला (800 ई°) प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी मन्दिरों में विद्यालय खोले जो आगे चल कर मठों के रूप में परिवर्तित हो गये।

वेदों में उल्लिखित कुछ मन्त्र इस बात को रेखांकित करते है कि कुमारियों के लिए शिक्षा अपरिहार्य एवं महत्वपूर्ण मानी जाती थी। स्त्रियों को लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थी। सहशिक्षा को बुरा नहीं समझा जाता था। गोभिल गृहसूत्र में कहा गया है कि अशिक्षित पत्नी यज्ञ करने में समर्थ नहीं होती थी। संगीत शिक्षा पर जोर दिया जाता था।इच्छा और योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए श्रमणक्रमणिका में उल्लिखित प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की रचना में २०० स्त्रियों का योगदान है। शकुन्तला राव शास्त्री ने इसे तीन कोटि में विभाजित किया है। (१) महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक, (२) आंशिक रूप से महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक एवं (३) महिला ऋषिकाओं को समर्पित श्लोक। ऋग्वेद के दशम मंडल के ३९ एवं ४० सूक्त की ऋषिका घोषा, रोमशा, विश्ववारा, इन्द्राणी, शची और अपाला थी।

वैदिक युग में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत घारण कर वेदाध्ययन एवं सायं- प्रात होम आदि कर्म करती थी। शतपथ ब्राह्मण में व्रतोपनयन का उल्लेख है। हरित संहिता के अनुसार वैदिक काल में शिक्षा ग्रहण करने वाली दो प्रकार की कन्याएँ होती थी - ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवात्। सद्योवात् 15 या 16 वर्ष की उम्र तक, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था, तब तक अध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना एवं यज्ञों के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी।महावीर और गौतम बुद्ध ने संघ मे नारियों के प्रवेश की अनुमति दी थी, ये धर्म और दर्शन के मनन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। जैन और बौद्व सहित्य से पता चलता है कि कुछ भिक्षुणियों ने साहित्य के विकास और शिक्षा में अपूर्व योगदान दिया जिसमें अशोक की पुत्री संघमित्रा प्रमुख थी। यहाँ बौद्ध आगमों की महान शिक्षिकाओं के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। जैन साहित्य से जयंती नामक महिला का पता चलता है जो धर्म और दर्शन के ज्ञान की प्यास में अविवाहित रही और अंत में भिक्षुणी हो गई।हाल की गाथासप्तशती में सात कवयित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत है। शीलभट्टारिका अपनी सरल तथा प्रासादयुक्त शैली तथा शब्द और

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

अर्थ के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध थी। देवी लाट प्रदेश की कवियित्री थी। विदर्भ में विजयांका की कीर्ति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे। अवंतीसुन्दरी कवियत्री और टीकाकार देनों ही थी। कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रचनायें की हैं जिनमें रुसा का नाम बड़ा प्रसिद्ध है।

आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक्-प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा की व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुत: कन्याओं के लिए पृथक् पाठशालाएँ न थीं। जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं। [3] उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी अध्ययन कर रही थी। भवभूति ने `मालती माधव' (प्रथमांक) में कामन्दकी के गुरुकुल में अध्ययन करने का वर्णन किया है। किन्तु ये उदाहरण बहुत कम हैं। अधिकतर गुरुपत्नी, गुरुकन्या अथवा गुरु की पुत्रवधू ही गुरुकुल में रहने के कारण अध्ययन का लाभ उठा पाती थीं वस्तुत: शास्त्रों के अनुरोध पर कन्याओं की शिक्षा गृह पर ही होती थी।प्राचीन भारत में गुरु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में रहकर विद्योपार्जन श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव अधिकांश विद्यार्थी गुरु कुलों में ही रहते थे। गुरु जन अपने घर पर ही विद्यार्थी के आवास-निवास की व्यवस्था करते थे। भोजन का कार्य भिक्षा वृत्ति द्वारा चलता था अथवा अध्यापक के गृह में भी व्यवस्था हो जाती थीं। उस समय एक गुरु के पास एक साथ प्राय: पन्द्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं पढ़ते थे। कभी-कभी तो केवल चार विद्यार्थी ही एक गुरु के अधीन अध्ययन करते थे। अतएव उनके भोजन व निवास की व्यवस्था करना गुरु के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होता था। किन्तु गुरु के विद्यार्थियों का प्रबन्ध करने में असमर्थ होने पर विद्यार्थी अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करते थे।

अध्यापन कार्य में विद्यार्थी से धन मांगना अध्यापक के लिए अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। गुरु निर्धन से निर्धन विद्यार्थी को भी पढ़ाने से मना नहीं कर सकता था। जो गुरु विद्या के लिए मोल-भाव करता था उसको विद्या का व्यवसायी कह कर हेय समझा जाता था। ऐसे अध्यापकों को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक के कार्य के अयोग्य कहा गया। किन्तु गुरु के पढ़ाये हुए एक ही अक्षर द्वारा शिष्य उसका ऋणी समझा जाता था। अतएव समावर्तन के अवसर पर शिष्य गुरु-दक्षिणा के रूप में सामर्थ्यानुसार गुरु को धन देते थे। जो अत्यन्त निर्धन होते थे वे गुरु की गृहस्थी में सेवा-कार्य करके तथा समावर्तन के समय भिक्षा मांग कर गुरु दक्षिणा देते थे। वस्तुत: राजा और प्रजा दोनों का कर्त्तव्य था कि वे विद्वान आचार्यों एवं शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दें।

निष्कर्ष

प्रागैतिहासिक काल में साहित्यिक तथा व्यावसायिक हर प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही होती थी। ऐसी अवस्था में सम्भवत: सगे भाई-बहन तथा चचेरे भाई-बहन सम्मिलित होकर ही परिवार के शिक्षित अग्रजनों के संरक्षण में विद्योपार्जन करते रहे होगे। किन्तु धीरे-धीरे विद्या के भण्डार में प्रचुर वृद्धि हो जाने से विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी। अतएव विद्यार्थियों के लिए परिवार से दूरस्थ स्थानों पर जाकर प्रतिष्ठित विद्वानों के संरक्षण में वांछित विषयों का अध्ययन करना आवश्यक हो गया। प्राय: कन्याओं को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर के बाहर विद्वान् आचार्यों के पास जाना पड़ता था। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारे ग्रन्थों से बहुत कम संकेत प्राप्त होते हैं।उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ पढ़ने वाली आत्रेयी नामक स्त्री का उल्लेख हुआ है। जो इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि उस युग में सह-शिक्षा का प्रचार था। इसी प्रकार `मालती-माधव' में भी भवभूति ने भूरिवसु एवं देवराट के साथ कामन्दकी नामक स्त्री के एक ही पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन किया है। भवभूति आठवी शताब्दी के कवि हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यदि भवभूति के समय में नहीं तो उनसे कुछ समय पूर्व तक बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का प्रचलन अवश्य रहा होगा। इसी प्रकार पुराणों में कहोद और सुजाता, रूहु और प्रमदवरा की कथाएं वर्णित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कन्याएं बालकों के साथ-साथ पाठशालाओं में पढ़ती थीं तथा उनका विवाह युवती हो जाने पर होता था। परिणामत: कभी-कभी गान्धर्व विवाह भी हो जाते थे। ये समस्त प्रमाण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषों के बीच रह कर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थीं। उस युग में सहशिक्षा-प्रणाली का अस्तित्व भी इनसे सिद्ध होता है। गुरुकुलों में सहशिक्षा का प्रचार था, इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह ससूत्र में वर् णित समावर्तन संस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि में स्नातक के अनुलेपन क्रिया के वर्णन में बालक एवं बालिका का समार्वतन संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होना पाया जाता है। उस युग में स्त्री के ब्रह्मचर्याश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तन संस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार प्रमाणित हो जाता है।[2]

पूर्व काल में जब बड़ी संख्या में स्त्रियां उच्च शिक्षा ग्रहण कर रही थीं और अपना अमूल्य योगदान देकर साहित्य के गौरव को बढ़ा रही थीं, उस समय उनमें से कुछ अध्यापन कार्य भी अवश्य ही करती होंगी। संस्कृत साहित्य में उपाध्याया एवं उपाध्यायानी शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। उपाध्याय की पत्नी को आदर पूर्वक उपाध्यायानी कहा गया है, किन्तु उपाध्याया उन विदुषी नारियों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो अध्यापन कार्य करती थीं। महिला शिक्षिकाओं का बोध कराने वाले एक अन्य शब्द की रचना करने की आवश्यकता पड़ना तभी सम्भव रहा होगा जबकि महिला शिक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में रही हों। इसके अतिरिक्त पर्दाप्रथा बारहवीं शताब्दी के बाद भारतीय समाज में आयी, अतएवं स्त्रियों के लिए अध्यापन कार्य में किसी प्रकार के बन्धन की सम्भावना भी न थी। हो सकता है ये उपाध्यायाएँ केवल कन्याओं को ही पढ़ाती रही हों अथवा बालक-बालिकाओं दोनों को। पाणिनि ने भी आचार्य एवं

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

आचार्यानी के अन्तर को स्पष्ट किया है तथा छात्रीशालाओं का उल्लेख किया है। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्याएँ इन छात्रीशालाओं की संरक्षि-काएँ भी होती होंगी। रामदास गौड़ ने लिखा है- `हर्ष के बाद सातवीं-आठवीं शती में भी स्त्रियों के अध्यापन कार्य का पता मिलता है। शंकराचार्य से हार जाने के फलस्वरूप अपने पति मण्डन मिश्र के सन्यास ले लेने पर उभयभारती श्रृंगगिरि में अध्यापन कार्य करने लगी थी। कहा जाता है कि भारती द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही श्रृंगेरी और द्वारका के मठों का शिष्य सम्प्रदाय `भारती' नाम से अभिहित हुआ। किन्तु फिर भी स्थान की कमी एवं असुविधाओं के कारण अधिकांश कन्याएँ घर पर ही पढ़ती होंगी तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने का साहस न कर पाती होंगी। सम्भवत: इसी कारण इन छात्राशालाओं एवं उपाध्यायाओं के सम्बन्ध में अधिक विवरण प्राप्त नहीं होते। यद्यपि इस काल में मैत्रेयी, गार्गी, विश्ववारा एवं लीला-वती के समान उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएँ थी, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस युग में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन था अथवा स्त्री-शिक्षा अपने संगठित रूप में विद्यमान थी। इस सम्बन्ध में एल। मुकर्जी के अनुसार--`यह सम्भव है कि इस युग में स्त्रियों के लिए शिक्षा की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थीं।[1]

सम्भवत: जब समाज में योग्य उपाध्यायाएँ प्राप्त हो जाती होंगी तब उन्हीं के संरक्षण में कन्याओं को भेजा जाता होगा किन्तु इनके उपलब्ध न होने पर बाध्य होकर आचार्यों के पास पुत्रियों की अध्ययनार्थ भेजना पड़ता होगा। जिस काल में गान्धर्व विवाह समाज में असामान्य न था, सहशिक्षा में कन्याओं के अभिभावकों को कोई आपत्ति भी न रही होगी। किन्तु आगे चलकर गान्धर्व-विवाह से कन्याओं के नैतिक पतन की आशंका बढ़ने लगी। अतएव लोग घर पर ही शिक्षक नियुक्त करके कन्याओं की उच्च शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उच्च शिक्षा हेतु दूरस्थ आचार्यों के पास जाने वाली कन्याओं की सख्या भी अधिक न रही होगी क्योंकि जातकों में शिक्षा हेतु तक्षशिला जाने वाली बालिकाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ईसा की चौथी शताब्दी तक लड़कों के लिए भी सार्वजनिक पाठशालाएँ न थीं। हारीत ने व्यवस्था दी है कि कन्याओं की शिक्षा घर पर ही पिता, चाचा अथवा भाई द्वारा होनी चाहिए। इसी प्रकार मनु भी कन्याओं को पुरुष शिक्षकों के सरंक्षण में रखकर लड़कों के साथ अध्ययन करने के लिए घर से बाहर भेजने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि सह-शक्षा से कन्याओं का कौसार्यत्व नष्ट होने की आशंका बढ़ जाती है। स्त्री-शिक्षा का प्रथम संगठित प्रयास करने का श्रेय बौद्धो को प्राप्त है। बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दे दी थी। बौद्धों ने विहारों में निवास करने वाली भिक्षुणियों के लिए शिक्षा की सन्तोषजनक व्यवस्था भी की थी। ब्रह्मवादिनियों के समान इनमें से बहुत-सी नारियों ने धर्म और दर्शन ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य पालन किया। इनमें से कुछ सिंहल देश भी गयी तथा वहाँ बौद्ध धर्म की महान शिक्षिकाओं के रूप में उन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। इन विहारों में ये नारियाँ सहशिक्षा ही ग्रहण करतीं थीं। किन्तु इन बौद्ध संघों में भी ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग नारी शिक्षा का पूर्ण ह्रास हो चुका था। कितनी प्रतिशत छात्राएँ सहशिक्षा ग्रहण करती होगी, इस प्रश्न का निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु निश्चय ही यह संख्या अधिक नहीं रही होगी। वर्तमान में वैदिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए बाबा रामदेव ने आचार्यकूलम की स्थापना की है। आचार्यकुलम की स्थापना करने के पीछे बाबा रामदेव का उद्देश्य है वैदिक और भारतीय शिक्षा को बढ़ावा मिले। आचार्यकुलम गुरुकुल पद्धति पर आधारित गुरुकुल शिक्षा के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा पद्धति का एक आवासीय शैक्षणिक संस्थान है, जो भारत देश के उत्तराखंड राज्य के हरिद्वार में स्थित है। इसकी सबसे खास बात है कि यहाँ 8 वीं तक 50 प्रतिशत वैदिक और 50 प्रतिशत सीबीएसई का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है। इसके बाद 8 वीं के 25 प्रतिशत वैदिक और 75 प्रतिशत सीबीएसई का सिलेबस होता है।साथ ही यह ऐसा पहला स्कूल है जहां विद्यार्थी को जितनी अंग्रेजी सिखाई जाती उतनी ही संस्कृत में भी पारंगत किया जाता है|हाल ही में आचार्यकुलम सीबीएसई बोर्ड से जुड़ा है। आचार्यकुलम में आधुनिक और वैदिक शिक्षा का अद्भुत संगम देखने को मिलता है, यहां एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम के अलावा तीन पीरियड वैदिक शिक्षा के होते हैं। इनमें वेद, उपनिषद, संस्कृत, योग, हवन-पूजन आदि का ज्ञान दिया जाता है।[6]

प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में लिखा गया है। अत: यह अत्यन्त विशाल है। स्मृतियाँ संस्कृत साहित्य में परिवर्तनशील एक विशिष्ट काल की ओर संकेत करती हैं। उनके माध्यम से वैदिक काल से लेकर उनके अपने समय तक की समस्त साहित्यिक रचनाओं की श्रृंखला का पूर्वाभास कराया गया है। अतएव स्मृतिकालीन विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्रों के काल की समस्त मुख्य रचनाएँ थीं।

ईसा पूर्व पन्द्रह सौ शताब्दी तक अधिकांश वैदिक मन्त्रों के सम्पादन का कार्य पूर्ण हो चुका था। तत्पश्चात् वेदों के अर्थ-बोध के लिए जिन टीकात्मक एवं चर्चात्मक ग्रन्थों का विकास हुआ वे `ब्राह्मण' ग्रन्थों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। इस काल के विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग वेदों के स्वरूप की रक्षा एवं अर्थों के स्पष्टी-करण में किया गया, न कि नवीन साहित्यिक-रचनाओं के निरुपण में। फलत: वैदिक यज्ञों से सम्बनध अनेक सिद्धान्तों, मतवादों और रीतियों का विवेचन `ब्राह्मणों' में होने लगा। विद्वानों ने विशेष रूप से अपनी साधना का केन्द्र यज्ञों के कर्मकाण्ड को बनाया। परिणाम स्वरूप कर्मकाण्डों में जटिलता एवं दुरूहता आ गयी। दूसरी ओर वेदों की दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास हुआ और उसने `उपनिषदों' के रूप में पूर्णता प्राप्त की।

कालानुक्रम से वेदातिरिक्त साहित्य में भी प्रचुर वृद्धि हुई। फलत: इस सतत वर्धमान साहित्य में पारंगत होना अकेले एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो गया। उस काल में मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था। अतएव वैदिक साहित्य के लोप हो जाने का भय सदा बना रहता था। साहित्य-सुरक्षा के दृष्टिकोण से अध्ययन क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। वैदिक पण्डितों में से कुछ को इस विशाल साहित्य को ज्यों का त्यों कण्ठस्थ करने का कार्य सौंपा गया, जिससे साहित्य का शुद्ध स्वरूप अक्षुण्ण बना रहे तथा

| ISSN: 2582-7219 | www.ijmrset.com |

| Volume 1, Issue 1, November 2018 |

अन्य विद्वानों की टीकाओं निरुक्तों और शब्दकोश आदि का अध्ययन करके इनकी व्याख्या करने में अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर दिया गया। इस काल में हिन्दू मेघा की सबसे अधक निर्णयात्मक एवं रचनात्मक प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ। फलस्वरूप शिक्षा, दर्शन, न्याय, महाकाव्य, भाषाविज्ञान, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, कल्प, अनेकों कलाएँ, व्यावहारिक विद्या आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुई। इन ग्रन्थों के विद्वानों ने अपने विद्यार्थीयों की सुगमता के लिए इन विषयों का नवीनीकरण करते हुए उन्हें सक्षेप में एकत्रि त कर दिया। उपनिषदों एवं सूत्रों के काल (ई. पू. प्रथम सहस्राब्दि) में लेखन कला का ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया क्योंकि वैदिक मन्त्रों को लिपि बद्ध करना अधार्मिक माना जाता था। इसी काल में वैदिक चरणों के आधारों पर विद्वानों ने धर्मसूत्रों में एक नवीन साहित्य की रचना भी कर डाली। उपर्युक्त संस्कृत-वाङ्मय के परिवर्तनशील इतिहास को दृष्टिगत करते हुए हम उसकी विविधता एवं विशालता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। स्मृतियों में इस समस्त बाङ्मय में वर्णित सामाजिक रीतियों, धार्मिक कर्मकाण्डों, एवं संस्कारों का सर्वेक्षण किया गया है। वस्तुत: स्मृतियाँ एक विशाल समाज को लक्ष्य करके ही निर्मित की गयी हैं। स्मृति ग्रन्थों में हम इसी साहित्य के उल्लेख की आशा भी रखते हैं। अतएव इनमें गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, उपनिषदों तथा मीमांसाओं में पूर्व विद्यमान श्रेष्ठ प्रथाओं, रीतियों, मान्यताओं एवं संस्कारों का संकलन किया गया है। इस कार्य में जितनी सफलता मनुस्मृति ने प्राप्त की हैं उतनी अन्य किसी स्मृति ने नहीं। अत: यहां पर मनु स्मृति में संकेतित विषयों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

मनु ने तीनों वेदों को श्रुति कहा है। ये तीन वेद ही संस्कृत साहित्य की प्रथम कड़ी हैं। वैदिक मन्त्रों का विकास चरणों के रूप में हुआ जिनकी वांछित शाखाओं का ज्ञान पुरोहित वर्ग अवश्य प्राप्त करता था। मन्त्र, ब्राह्मण, शाखा को पढ़े हुए 'ऋग्वेदी'; वेदों के पारगामी, समस्त शाखाओं के ज्ञाता 'ऋत्विज्' तथा वेदों को पढ़कर पारंगत हुए विद्वान् ब्राह्मण को विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। जो ब्राह्मण तीन वेदों के ज्ञाता होते थे उन्हें 'त्रिवेदी' कहा जाता था।

मनुस्मृति में अध्ययन के लिए वेदों के कुछ प्रमुख विशेष रूप से पारित किये गये हैं। वस्तुत: इस काल तक धार्मिक क्रियाओं एंव प्रायश्चितों द्वारा शुद्धीकरण की प्रक्रियाओं में अत्यन्त विस्तार हो गया था। अतएव विशिष्ट अवसरों पर वेदों की कुछ ऋचाओं के उच्चारण का महत्व भी बढ़ गया। मनु स्मृति में ऐसी ऋचाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इनका उच्चारण पूर्ण सन्तुलन एवं नियम के साथ होना चाहिए जिससे पापों से मुक्ति पायी जा सके। ब्राह्मण अथर्ववेद की अंगिरस श्रुति का प्रयोग शत्रु के नाश के लिए शस्त्र के रूप में करते थे। स्नातकों के प्रतिदिन के स्वाध्याय पाठ में ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का प्रोत्साहन दिया गया है। मनु ने ऐतरेय ब्राह्मण (६.२) के `सुब्रह्मण्य' नामक मन्त्रों एवं ऐतरेय ब्राह्मण (८. १३-१६) तथा बह् वृच ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप गाथा का भी उल्लेख किया है।[6]

संदर्भ

1) भारत में शिक्षा व्यवस्था, 1999
2) कैसी थी पारंपरिक भारतीय शिक्षा पद्धति? (आन्नद सुब्रमण्यम शास्त्री), 2001
3) Ancient Indian Education: Brahmanical and Buddhist (गूगल पुस्तक ; रचनाकार : राधाकुमुद मुखर्जी), 1993
4) 18वीं सदी में दुनिया में सबसे अधिक शिक्षा संस्थाएँ भारत में थीं, 2000
5) भारतीय शिक्षा का स्वर्णिम अतीत (हृदयनारायण दीक्षित), 1990
6) प्राचीन भारत में शिक्षा, 1980